[१४]

अथ वानप्रस्थसंस्कारविधिं वक्ष्यामः

'वानप्रस्थसंस्कार' उस को कहते हैं, जो विवाह से सन्तानोत्पत्ति करके पूर्ण ब्रह्मचर्य से पुत्र भी विवाह करे, और पुत्र का भी एक सन्तान हो जाय । अर्थात् जब पुत्र का भी पुत्र हो जावे, तब पुरुष वानप्रस्थाश्रम अर्थात् वन में जाकर निम्नलिखित सब बातें करे ।

अत्र प्रमाणानि—

ब्रह्मचर्याश्रमं समाप्य गृही भवेद् गृही भूत्वा वनी भवेद् वनी भूत्वा प्रव्रजेत् ॥१॥ —शतपथब्राह्मणे ॥

व्रतेन॑ दी॒क्षामा॑प्नोति दी॒क्षया॑प्नोति॒ दक्षि॑णाम् ।
दक्षि॑णा श्र॒द्धामा॑प्नोति श्र॒द्धया॑ स॒त्यमा॑प्यते ॥२॥

—यजु० अ० १९। मं० ३०॥

अर्थः—मनुष्यों को उचित है कि ब्रह्मचर्याश्रम की समाप्ति करके गृहस्थ होवें । गृहस्थ होके वनी अर्थात् वानप्रस्थ होवें और वानप्रस्थ होके संन्यास ग्रहण करें ॥१॥

जब मनुष्य ब्रह्मचर्यादि तथा सत्यभाषणादि व्रत, अर्थात् नियम धारण करता है, तब उस (व्रतेन) व्रत से उत्तम प्रतिष्ठारूप (दीक्षाम्) दीक्षा को (आप्नोति) प्राप्त होता है । (दीक्षया) ब्रह्मचर्यादि आश्रमों के नियम-पालन से (दक्षिणाम्) सत्कारपूर्वक धनादि को (आप्नोति) प्राप्त होता है । (दक्षिणा) उस सत्कार से (श्रद्धाम्) सत्य-धारण में प्रीति को (आप्नोति) प्राप्त होता है और (श्रद्धया) सत्य धार्मिक जनों में प्रीति से (सत्यम्) सत्य विज्ञान वा सत्य पदार्थ मनुष्य को (आप्यते) प्राप्त होता है । **इसलिए श्रद्धापूर्वक ब्रह्मचर्य और गृहाश्रम का अनुष्ठान करके वानप्रस्थ आश्रम अवश्य करना चाहिये** ॥२॥

अ॒भ्याद॑धामि स॒मिध॒मग्ने॑ व्रतपते॒ त्वयि॑ ।
व्र॒तञ्च॑ श्र॒द्धां चोपै॑मी॒न्धे त्वा॑ दीक्षि॒तोऽ अ॒हम् ॥३॥

—यजु० अ० २०। मं० २४ ॥

आ न॑यै॒तमा र॑भस्व सु॒कृतां॑ लो॒कमपि॑ गच्छतु प्रजा॒नन् ।
ती॒र्त्वा तमां॑सि बहु॒धा म॒हान्त्य॒जो नाक॒मा क्र॑मतां तृ॒तीय॑म् ॥४॥

—अथर्व का० ९ । सू० ५। मं० १॥

अर्थः—हे (व्रतपते अग्ने) नियमपालकेश्वर ! (दीक्षितः) दीक्षा को प्राप्त होता हुआ (अहम्) मैं (त्वयि) तुझ में स्थिर होके (व्रतम्) ब्रह्मचर्यादि आश्रमों का धारण (च) और उस की सामग्री, (श्रद्धाम्) सत्य की धारणा को (च) और उस के उपायों को (उपैमि) प्राप्त होता हूं। इसीलिए अग्नि में जैसे (समिधम्) समिधा को (अभ्यादधामि) धारण करता हूं, वैसे विद्या और व्रत को धारण कर प्रज्वलित करता हूं और वैसे ही (त्वा) तुझ को अपने आत्मा से धारण करता, और सदा (ईन्धे) प्रकाशित करता हूं ॥३॥

हे गृहस्थ ! (प्रजानन्) प्रकर्षता से जानता हुआ तू (एतम्) इस वानप्रस्थाश्रम का (आरभस्व) आरम्भ कर । (आनय) अपने मन को गृहाश्रम से इधर की ओर ला । (सुकृताम्) पुण्यात्माओं के (लोकमपि) देखने योग्य वानप्रस्थाश्रम को भी (गच्छतु) प्राप्त हो । (बहुधा) बहुत प्रकार के (महान्ति) बड़े-बड़े (तमांसि) अज्ञान दुःख आदि संसार के मोहों को (तीर्त्वा) तरके अर्थात् पृथक् होकर (अजः) अपने आत्मा को अजर-अमर जान (तृतीयम्) तीसरे (नाकम्) दुःख-रहित वानप्रस्थाश्रम को (आक्रमताम्) आक्रमण अर्थात् रीतिपूर्वक आरूढ़ हो ॥४॥

भद्रमिच्छन्त ऋषयस्स्वर्विदस्तपो दीक्षामुपनिषेदुरग्रे ।
ततो राष्ट्रं बलमोजश्च जातं तदस्मै देवा उपसंनमन्तु ॥५॥

—अथर्व० का० १९। सू० ४१ । मं० १॥

मा नो मेधां मा नो दीक्षां मा नो हिंसिष्ट यत्तपः ।
शिवा नः सन्त्वायुषे शिवा भवन्तु मातरः ॥६॥

—अथर्व० का० १९ । सू० ४०। मं० ३॥

अर्थः—हे विद्वान् मनुष्यो ! जैसे (स्वर्विदः) सुख को प्राप्त होने वाले (ऋषयः) विद्वान् लोग (अग्रे) प्रथम (दीक्षाम्) ब्रह्मचर्यादि आश्रमों की दीक्षा उपदेश लेके (तपः) प्राणायाम और विद्याध्ययन जितेन्द्रियत्वादि शुभ लक्षणों को (उप निषेदुः) प्राप्त होकर अनुष्ठान करते हैं, वैसे इस (भद्रम्) कल्याणकारक वानप्रस्थाश्रम की (इच्छन्तः) इच्छा करो। जैसे राजकुमार ब्रह्मचर्याश्रम को करके (ततः) तदनन्तर (ओजः) पराक्रम (च) और (बलम्) बल को प्राप्त होके (जातम्) प्रसिद्ध प्राप्त हुए (राष्ट्रम्) राज्य की इच्छा और रक्षा करते हैं और (अस्मै) न्यायकारी धार्मिक विद्वान् राजा को (देवाः) विद्वान् लोग नमन करते हैं, (तत्) वैसे सब लोग वानप्रस्थाश्रम को किये हुए आप को (उप सं नमन्तु) समीप प्राप्त होके नम्र होवें ॥५॥

सम्बन्धी जन (नः) हम वानप्रस्थाश्रमस्थों की (मेधाम्) प्रज्ञा को (मा हिंसिष्ट) नष्ट मत करे । (नः) हमारी (दीक्षाम्) दीक्षा को (मा)

मत । और (नः) हमारा (यत्) जो (तपः) प्राणायामादि उत्तम तप है उस को भी (मा) मत नाश करे । (नः) हमारी दीक्षा और (आयुषे) जीवन के लिए सब प्रजा (शिवाः) कल्याण करनेहारी (सन्तु) होवें। जैसे हमारी (मातरः) माता पितामही प्रपितामही आदि (शिवाः) कल्याण करनेहारी होती हैं, वैसे सब लोग प्रसन्न होकर मुझ को वानप्रस्थाश्रम की अनुमति देनेहारे (भवन्तु) होवें ।।६।।

तपःश्रद्धे ये ह्युपवसन्त्यरण्ये शान्त्या विद्वांसो भैक्ष्यचर्याञ्चरन्तः।
सूर्यद्वारेण ते विरजाः प्रयान्ति यत्रामृतः स पुरुषो ह्यव्ययात्मा ।।७।।

—मुण्डकोपनि० मुं० १ । ख० २ । मं० ११।।

अर्थ—हे मनुष्यो ! (ये) जो (विद्वांसः) विद्वान् लोग (अरण्ये) जंगल में (शान्त्या) शान्ति के साथ (तपःश्रद्धे) योगाभ्यास और परमात्मा में प्रीति करके (उपवसन्ति) वनवासियों के समीप वसते हैं, और (भैक्ष्यचर्याम्) भिक्षाचरण को (चरन्तः) करते हुए जंगल में निवास करते हैं, (ते) वे (हि) ही (विरजाः) निर्दोष निष्पाप निर्मल होके (सूर्यद्वारेण) प्राण के द्वारा (यत्र) जहां (सः) सो (अमृतः) मरण-जन्म से पृथक् (अव्ययात्मा) नाशरहित (पुरुषः) पूर्ण परमात्मा विराजमान है, (हि) वहीं (प्रयान्ति) जाते हैं । इसलिए वानप्रस्थाश्रम करना अति उत्तम है ।।७।।

एवं गृहाश्रमे स्थित्वा विधिवत् स्नातको द्विजः ।
वने वसेत्तु नियतो यथावद् विजितेन्द्रियः ।।१।।
गृहस्थस्तु यदा पश्येद् वलीपलितमात्मनः ।
अपत्यस्यैव चापत्यं तदारण्यं समाश्रयेत् ।।२।।
सन्त्यज्य ग्राम्यमाहारं सर्वञ्चैव परिच्छदम् ।
पुत्रेषु भार्यां निक्षिप्य वनं गच्छेत् सहैव वा ।।३।।

अर्थ—पूर्वोक्त प्रकार विधिपूर्वक ब्रह्मचर्य से पूर्ण विद्या पढ़के समावर्तन के समय स्नानविधि करनेहारा द्विज=ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्य जितेन्द्रिय जितात्मा होके यथावत् गृहाश्रम करके वन में वसे ।।१।।

गृहस्थ लोग जब अपने देह का चमड़ा ढीला और श्वेत केश होते हुए देखें, और पुत्र का भी पुत्र हो जाय, तब वन का आश्रय लेवें ।।२।।

जब वानप्रस्थाश्रम की दीक्षा लेवें, तब ग्रामों में उत्पन्न हुए पदार्थों का आहार और घर के सब पदार्थों को छोड़के पुत्रों में अपनी पत्नी को छोड़ अथवा संग में लेके वन को जावें ।।३।।

अग्निहोत्रं समादाय गृह्यं चाग्निपरिच्छदम् ।
ग्रामादरण्यं निःसृत्य निवसेन्नियतेन्द्रियः ।।४।।

जब गृहस्थ वानप्रस्थ होने की इच्छा करे तब अग्निहोत्र को सामग्री-सहित लेके ग्राम से निकल जङ्गल में जितेन्द्रिय होकर निवास करे ।।४।।

स्वाध्याये नित्ययुक्तः स्याद् दान्तो मैत्रः समाहितः ।
दाता नित्यमनादाता सर्वभूतानुकम्पकः ।।५।।
तापसेष्वेव विप्रेषु यात्रिकं भैक्ष्यमाहरेत् ।
गृहमेधिषु चान्येषु द्विजेषु वनवासिषु ।।६।।
एताश्चान्याश्च सेवेत दीक्षा विप्रो वने वसन् ।
विविधाश्चौपनिषदीरात्मसंसिद्धये श्रुतीः ।।७।।

—मनु० अ० ६।।

अर्थ—वहां जंगल में वेदादिशास्त्रों को पढ़ने-पढ़ाने में नित्य युक्त मन और इन्द्रियों को जीतकर यदि स्वस्त्री भी समीप हो तथापि उस से सेवा के सिवाय विषय-सेवन अर्थात् प्रसङ्ग कभी न करे । सब से मित्रभाव, सावधान, नित्य देनेहारा, और किसी से कुछ भी न लेवे । सब प्राणीमात्र पर अनुकम्पा=कृपा रखनेहारा होवे ।।५।।

जो जंगल में पढ़ाने और योगाभ्यास करनेहारे तपस्वी धर्मात्मा विद्वान् लोग रहते हों, जो कि गृहस्थ वा वानप्रस्थ वनवासी हों, उन के घरों में से भिक्षा ग्रहण करे ।।६।।

और इस प्रकार वन में वसता हुआ इन और अन्य दीक्षाओं का सेवन करे और आत्मा तथा परमात्मा के ज्ञान के लिए नाना प्रकार की उपनिषद् अर्थात् ज्ञान और उपासना-विधायक श्रुतियों के अर्थों का विचार किया करे । इसी प्रकार जब तक संन्यास करने की इच्छा न हो, तब तक वानप्रस्थ ही रहे ।।७।।

अथ विधि—वानप्रस्थाश्रम करने का समय ५० वर्ष के उपरान्त है। जब पुत्र का भी पुत्र हो जावे, तब अपनी स्त्री, पुत्र, भाई-बन्धु, पुत्रवधू आदि को सब गृहाश्रम की शिक्षा करके वन की ओर यात्रा की तैयारी करे । यदि स्त्री चले तो साथ ले जावे, नहीं तो ज्येष्ठ पुत्र को सौंप जावे कि इस की सेवा यथावत् किया करना । और अपनी पत्नी को शिक्षा कर जावे कि तू सदा पुत्र आदि को धर्ममार्ग में चलने के लिये और अधर्म से हटाने के लिए शिक्षा करती रहना ।

तत्पश्चात् पृष्ठ १२-१३ में लिखे प्रमाणे यज्ञशाला वेदी आदि सब बनावे । पृष्ठ १३-१४ में लिखे घृत आदि सब सामग्री जोड़के पृष्ठ १८-१९ में लिखे प्रमाणे (ओं भूर्भुवः स्वर्द्यौ०) इस मन्त्र से अग्न्याधान, और (अयन्त इध्म०) इत्यादि मन्त्रों से समिदाधान करके, पृष्ठ २० में लिखे प्रमाणे (ओम् अदितेऽनुमन्यस्व) इत्यादि ४ चार मन्त्रों से कुण्ड के चारों

ओर जलप्रोक्षण करके, पृष्ठ २०-२१ में लिखे प्रमाणे आघारावाज्यभागाहुति ४ चार और व्याहृति आज्याहुति ४ चार करके, पृष्ठ ७-११ में लिखे प्रमाणे स्वस्तिवाचन और शान्तिकरण करके, स्थालीपाक बनाकर और उस पर घृत सेचन कर निम्नलिखित मन्त्रों से आहुति देवे-

ओम् काय स्वाहा। कस्मै स्वाहा। कतमस्मै स्वाहा। स्वाहाऽऽधिमाधीताय स्वाहा। मनः प्रजापतये स्वाहा। चित्तं विज्ञाताय आदित्यै स्वाहा। अदित्यै मह्यै स्वाहा। अदित्यै सुमृडीकायै स्वाहा। सरस्वत्यै स्वाहा। सरस्वत्यै पावकायै स्वाहा। सरस्वत्यै बृहत्यै स्वाहा। पूष्णे स्वाहा। पूष्णे प्रपथ्याय स्वाहा। पूष्णे नरन्धिषाय स्वाहा। त्वष्ट्रे स्वाहा। त्वष्ट्रे तुरीपाय स्वाहा। त्वष्ट्रे पुरुरूपाय स्वाहा॥ -यजु० अ० २२। मं० २० ।।

भुवनस्य पतये स्वाहा। अधिपतये स्वाहा। प्रजापतये स्वाहा॥

-यजु० अ० २२। मं० ३२ ।।

ओम् आयुर्यज्ञेन कल्पताꣳ स्वाहा। प्राणो यज्ञेन कल्पताꣳ स्वाहा। अपानो यज्ञेन कल्पताꣳ स्वाहा। व्यानो यज्ञेन कल्पताꣳ स्वाहा। उदानो यज्ञेन कल्पताꣳ स्वाहा। समानो यज्ञेन कल्पताꣳ स्वाहा। चक्षुर्यज्ञेन कल्पताꣳ स्वाहा। श्रोत्रं यज्ञेन कल्पताꣳ स्वाहा। वाग्यज्ञेन कल्पताꣳ स्वाहा। मनो यज्ञेन कल्पताꣳ स्वाहा। आत्मा यज्ञेन कल्पताꣳ स्वाहा। ब्रह्मा यज्ञेन कल्पताꣳ स्वाहा। ज्योतिर्यज्ञेन कल्पताꣳ स्वाहा। स्वर्यज्ञेन कल्पताꣳ स्वाहा। पृष्ठं यज्ञेन कल्पताꣳ स्वाहा। यज्ञो यज्ञेन कल्पताꣳ स्वाहा ॥

-यजु० अ० २२। मं० ३३ ।।

एकस्मै स्वाहा । द्वाभ्यां स्वाहा । शताय स्वाहा ।
एकशताय स्वाहा व्युष्ट्यै स्वाहा स्वर्गाय स्वाहा ॥

-यजु० अ० २२। मं० ३४ ।।

इन मन्त्रों से एक-एक करके ४३ स्थालीपाक की आज्याहुति देके, पुनः पृष्ठ २१ में लिखे प्रमाणे व्याहृति आहुति ४ चार देकर, पृ० २३-२४ में लिखे प्रमाणे सामगान करके, सब इष्ट-मित्रों से मिल, पुत्रादिकों पर सब घर का भार धरके, अग्निहोत्र की सामग्री सहित जङ्गल में जाकर एकान्त में निवासकर योगाभ्यास, शास्त्रों का विचार, महात्माओं का सङ्ग करके स्वात्मा और परमात्मा को साक्षात् करने में प्रयत्न किया करे ।।

इति वानप्रस्थसंस्कारविधिः समाप्तः ॥